Chapter-7

अध्याय : सात

:: उपसंहार ::

:: अध्याय : सात ::

==========

:: उपसंहार ::

=====

हमारा प्राचीन कथा-साहित्य अत्यंत समृद्ध है ; परंतु वस्तु , शिल्प एवं प्रकृति में वह आधुनिक कथा-साहित्य से भिन्न-सा प्रतीत होता है । प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में यह आधुनिक कथा-साहित्य 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गद्य के समुचित विकास के बाद विकसित हुआ है । उस पर अंग्रेजी के कथा-साहित्य का भी काफी प्रभाव है । अंग्रेजों ने शासन की बागडोर थामने के पश्चात हमारे यहां अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाली और इस प्रकार हम अंग्रेजी-साहित्य के परिचय में आये । फलतः उसके कथा-साहित्य से भी हमारा परिचय हुआ और हमारे साहित्यकारों ने अनुभव किया कि इस प्रकार की साहित्य-विधाएं हमारे यहां नहीं है , अतः उनका आविर्भाव होना चाहिए । दूसरे उत्क्रांति के बाद योरोप में 15 वीं शताब्दी के उपरांत तथा हमारे यहां 19 वीं शताब्दी के बाद जिन सामाजिक स्थितियों का निर्माण

हुआ , समाज के स्वरूप में जो आमूल परिवर्तन आया , सामंतवाद की टूटन तथा पूंजीवाद की स्थापना के कारण , समाज में जो जटिलता आयी उसके रूपायन में इस कथा-साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । परंतु कुछेक कहानियों को छोड़कर 19 वीं शताब्दी के कथा-साहित्य में कोई विशेष साहित्यिक उपलब्धि नहीं रही । इस दृष्टि से तो 20 वीं शताब्दी ही महत्वपूर्ण मानी जायेगी । 20 वीं शताब्दी के कथा-साहित्यको , हिन्दी कथा-साहित्य को , एक निश्चित संभावनापूर्ण दिशा की ओर ले जाने का श्रेय मुंशी प्रेमचन्दजी को है । अतः हिन्दी के कथा-साहित्य में उनका स्थान मेरूदण्ड के समान है । "काव्यमीमांसा" के लेखक आचार्य राजशेखर ने कहा है --

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते । "

यहां कवि शब्द का अर्थ केवल "कविता लिखनेवाला" नहीं है । संस्कृत वाडमय में "कवि" शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होता था । सभी साहित्यकारों को कवि कहा जाता था । इस प्रकार हम यहां देखते हैं कि प्रेमचन्द ने सचमुच प्रजापति का काम किया है । समय के जिस दौर में वे आये , हिन्दी का कथा-साहित्य , जासूसी और तिलस्मी के हल्के या वायवी वातावरण में लिप्त था या बहुत ही दरिद्र अवस्था में था । बहुत से पाठक और आलोचक आज भी "चन्द्रकान्ता" को एक श्रेष्ठ उपन्यास मानते हैं । लेखक की कल्पना-शक्ति , रचना-शक्ति, प्रबंध-कौशल , हजारों पात्रों और प्रसंगों का समुचित निर्वाह , ये सब प्रशंसा योग्य हैं ; परंतु हमारे नम्र मत में उसे एक श्रेष्ठ उपन्यास नहीं कहा जा सकता , क्योंकि उपन्यास की विभावना से वह काफी दूर पड़ता है । युगबोध व सत्य को आगे ले जाने के बदले वह पीछे ले जाता है । पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी , पं. बालकृष्ण भट्ट , मन्नन द्विवेदी प्रभृति उपन्यासकारों ने जो भूमि निर्मित की ; उसमें फसल उगाने के स्थान पर ये तो उसे उजाड़ने में लग गये । पहले जो लिखा गया , वह महत्वपूर्ण नहीं था , ऐसा नहीं है । तिलस्मे होशरूबा ,

कथा-सरितसागर , कादम्बरी आदि महत्त्वपूर्ण नहीं है , यह अभिप्राय नहीं । निश्चित रूप से वे कला की उपलब्धियां हैं । परंतु प्रश्न यह होता है कि कालिदास या तुलसी , क्या इस युग में पैदा होते , तब भी वैसा ही लिखते । लेखक ऋषि होता है , चिंतक होता है , वह अपने युग-सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकता । बल्कि उसकी सार्थकता उसमें है कि वह उस युग-सत्य की उद्भावना पाठकों के सम्मुख रखे । इसका अर्थ यह नहीं कि वह युग-सत्य का उद्घोषक मात्र है , समय या काल का चितेरा मात्र है , या उसकी कृति का केवल दस्तावेजी महत्त्व है । समाज का वह केवल मुख नहीं , मस्तिष्क भी है । प्रेमचन्द ने मुख और मस्तिष्क दोनों की भूमिकाओं बखूबी निभाया है ।

प्रेमचन्द चाहते तो उस प्रवाह में बड़े आराम से बह सकते थे । उसके लिए उनके पास पाथेय भी था । खूब पढ़ा था तिलस्मे होशरूबा और पुराणों को , अपने वांचन में खूब उड़े , परंतु लिखते समय धरती पर आ गये । वे धरतीपुत्र हैं और इसलिए इस धरती की बात को , उसकी पुकार को लेकर आये । डा. रामविलास शर्मा ने बहुत सही कहा है कि प्रेमचन्द ने न केवल हजारों-लाखों तिलस्मे-होशरूबा और चन्द्रकान्ता के पाठकों को "सेवासदन" का पाठक बनाया , बल्कि लोगों की अभिरुचि का भी परिष्कार किया ।

लोग कहते हैं कि जमाना ही बदल गया है
मर्द वह है जो जमाने को बदल देता है

और प्रेमचन्द ने यही किया है । इसीलिए उन्हें "युगनिर्माता" का बिरूद मिला हुआ है ।

हिन्दी के आधुनिक काल में किसी साहित्यकार का नाम यदि किसी काल-खण्ड से जुड़ा है , तो उनमें तीन महानुभावों के नाम आते हैं — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र , पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द । तीनों ने हिन्दी की बहुत सेवा की । जो काम गुजरात में नर्मद ने किया , लगभग वैसा ही काम हिन्दी में भारतेन्दु ने

किया । पं. महावीरप्रसाद द्विवेदीजी को हिन्दी का "पाणिनी" कहा जाता है । तीनों ने हिन्दी के लिए जो त्याग और बलिदान दिया वह अद्भुत है , तथापि स्थितियों में थोड़ा अन्तर है । भारतेन्दु बाबू अतुल संपत्ति के स्वामी थे । उनके पास साधनों और स्रोतों का अभाव नहीं था । उन्होंने अपनी समूची संपत्ति हिन्दी के लिए फूंक मारी । हालांकि इसके लिए भी बहुत बड़ा कलेजा चाहिए । आचार्य द्विवेदीजी ने सरकारी नौकरी को लात मारकर "सरस्वती" के संपादन का कार्य-भार संभाला और अनेकों को कवि और लेखक बनाया । परंतु उनके पास भी एक संस्था की ताकत थी । प्रेमचन्द ने न केवल लिखा , न केवल अपने समय के कथा-साहित्य का दिशा-निर्देश किया , बल्कि अनेक लोगों को लिखने के लिए प्रेरित करते हुए एक युग का निर्माण किया जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में "प्रेमचन्द-युग " के नाम से जाना जाता है , और यह कार्य उन्होंने अकेले , अपने बूते पर किया है । एक निर्धन सामान्य स्कूल मास्टर , उसका क्या बूता होता है ? संपत्ति हो और लुटा देना एक बात है , परंतु संपत्ति न हो , माली हालत बहुत-ही खराब हो , परिवार को पालने की समस्या हो , फिर भी लक्ष्मी का वरण न करके सरस्वती का वरण करना , यह बिरले ही कर सकते हैं ।

प्रेमचन्द चाहते तो रूपयों की टकसाल पड़ सकती थी । उनके जीवन में कई ऐसे मौके आये कि वे चाहते तो खूब कमा सकते थे । परन्तु उन्होंने हमेशा दूसरा ही रास्ता चुना । आर्थिक स्थिति अच्छी हो और नौकरी को ठुकरायें तो समझ में आ सकता है , परंतु जहां कल का ठिकाना न हो वहां नौकरी को ठुकराना यह प्रेमचन्द के ही बूते का काम है । और फिर उस पर "हंस" और "जागरण" जैसे दो-दो हाथियों को पालना , उसके लिए कर्जदार होना , यह प्रेमचन्द के ही बूते का काम है । जिन्दगी भर मेहनत करते रहे , कलम घिसते रहे और उसमें से जो आया उसे हिन्दी साहित्य की उन्नति के यज्ञ में

हवन करते रहे । निश्चय ही उनका यह कार्य अभूतपूर्व एवं अश्रुतपूर्व है ।

जैसे हिन्दु शास्त्रों में अवतारों की कल्पना है कि अधर्म , अन्याय और अत्याचार की जब अति हो जाती है ; तब किसी अवतार का जन्म होता है । ठीक वैसे ही साहित्य के इतिहासों में होता है कि कोई साहित्य किन्हीं कारणों से दरिद्र अवस्था में पाया जाता है , तब उसे ऊपर उठाने हेतु कोई-न-कोई क्रान्तद्रष्टा साहित्यकार अवतरित होता है । प्रेमचन्दजी ऐसे ही साहित्यकार हैं ।

प्रेमचन्दजी के पूर्व हिन्दी उपन्यासों के अनुवाद अन्य भाषाओं में नहीं होते थे । हिन्दी में बेशक अनूदित उपन्यासों की भरमार हो रही थी । प्रेमचन्दजी ने हिन्दी उपन्यास को उस सीमा तक ऊपर उठाया कि अब अन्य भाषाओं में हिन्दी उपन्यासों के अनुवाद होने लगे । इस प्रकार उपन्यास-विधा को हिन्दी में गरिमा प्रदान करने का कार्य उनके द्वारा संपन्न हुआ ।

प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यास अपरिपक्व , सू[illegible]xx स्थूल , कथावस्तु-प्रधान , उपदेश-प्रधान था ; परन्तु प्रेमचन्द ने उसे चरित्र-प्रधान बनाया । उन्होंने उपन्यास की जो परिभाषा दी है , वह भी इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है — " मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं । मानव-चरित्र के रहस्यों को खोलना और उस पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का कार्य है । " इसी चरित्र-प्रधान उपन्यास में बाद के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की संभावना पड़ी हुई है । अतः हिन्दी उपन्यास के नये आयामों को चिन्हित करने का कार्य भी उनके द्वारा हुआ ।

"प्रेमचन्द का महत्व" शीर्षक निबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा है — " प्रेमचन्द आत्माराम थे । शताब्दियों से पददलित , अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे , पर्दे में कैद , पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के

जबर्दस्त वकील थे । गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे । अगर उत्तर-भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको निःसंशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको दूसरा नहीं मिल सकता । "

ऐसे कृती साहित्यकार, युग-निर्माता साहित्यकार के साहित्य का सन्धान और अनुसंधान निरंतर होते रहना चाहिए । साहित्य में " invention " नहीं " Discovery " होती है । यहाँ 2 + 2 = 4 वाली बात नहीं है । साहित्य अनेक संभावनाओं से भरा हुआ होता है । ई. एम. फारस्टर ने इसे साहित्य की " ever verginity " कहा है । शायद हमारे यहाँ कला की देवी सरस्वती को कंवारी इसीलिए बताई गई है । अतः प्रेमचन्द पर पहले भी काफी कुछ लिखा गया है, शोध-अनुसंधान भी हुए हैं, और आगे भी काफी कुछ लिखा जायेगा तथा शोध-अनुसंधान भी होंगे । इसी उपक्रम में मेरा भी यह एक नम्र प्रयास था । जब समय बदलता है तो पहले के लेखकों को देखने, परखने और समझने के पैमानों में भी यत्किंचित परिवर्तन तो आता है । अनेक नये आयामों व पहलुओं को लेकर प्रेमचन्द साहित्य का अनुशीलन हो सकता है । इस अध्ययन में भी ऐसे ही एक पहलू को लेकर प्रेमचन्द के साहित्य को समझने की यथा-मति चेष्टा हुई है ।

वस्तुतः कथा-साहित्य लेखक के यथार्थ जीवनानुभवों का काल्पनिक आलेखन होता है । कल्पना है, सृजन है, परंतु उसका आधार जीवन के यथार्थ अनुभव होते हैं । अतः किसी लेखक के साहित्य को समझने के लिए, उसकी विचारधारा के उत्स को पाने के लिए, उसके जीवन का अध्ययन आवश्यक हो जाता है । कुछ लोगों का कहना है कि साहित्य और लेखक ये दो अलग व स्वतंत्र Entity हैं । परंतु यह बात केवल बाह्यतः ही सत्य लगती है । लेखक के जीवन का,

उसके परिवेश का, उसकेजीवन-संघर्षों का प्रभाव उसके साहित्य पर पड़ेगा ही । यहां कोई टी.एस. ईलियेट के निर्वैयक्तिकवाद या निरपेक्षतावाद का हवाला देते हुए कह सकता है कि 'There is always a seperation between the man who suffers and the artist who creats and the greater the seperation the greater the artist', परंतु इसे सूक्ष्मतः समझने की आवश्यकता है । यहां लेखक के द्वेषभाव, अहंमन्यता, पूर्वाग्रह इत्यादि को गला देने की बात है । कमिटमेण्ट को लेखकीय कला-कौशल से साहित्यिक-अभिव्यक्ति में परिवर्तित करने की बात है, लेखक के अपने अनुभव के छेद उड़ा देने की बात नहीं है । यह अनुभव तो लेखक की पूंजी है । इसे एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न करें । मान लीजिए कि किसी लेखक या कवि को किसी "सिंधी" जाति के व्यक्ति का बुरा अनुभव हुआ, अब उसके आधार पर यदि वह हर सिंधी को बुरी तरह से चित्रित करें तो वह अपने लेखकीय धर्म से चूकता है । वस्तुतः साहित्य में सबकुछ रस-xx बस कर, रच-पच कर आना चाहिए । हम जो खुराक लेते हैं, यदि उसका पाचन भलीभांति हो जाता है, तब तो वह हमारे अंग लगेगा, परंतु यदि उसका पाचन अच्छी तरह नहीं हुxx हुआ, तो शरीर में विकृति होगी । ठीक उसी तरह साहित्य में अनुभव, यथार्थ ये सब कला के रूप में ढलकर आने चाहिए । यहां एलिजाबेथ ड्रू का यह कथन विचार्य रहेगा — life, of course is the basic raw material of all art, but no artist is so close to his raw materials as the novelists". प्रस्तुत अध्ययन में यही देखा गया है कि प्रेमचन्द के जीवन का संघर्ष यहां किस रूप में आया है । और उनकी अनेक कृतियों के माध्यम से हमने देखा कि जहां यह अनुभव, यह संघर्ष, परिपक्व होकर, रचपच कर आया है, वहां वह कहानी या उपन्यास श्रेष्ठ कृति बन पायी/पाया है ।

प्रेमचन्द के जीवन का यह संघर्ष अनेकमुखी है । पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं साहित्यिक ऐसे उसके कई रूप मिलते हैं । हमने इस अध्ययन के अन्तर्गत पारिवारिक एवं आर्थिक संघर्ष को लेखक के वैयक्तिक संघर्ष के तहत रखा है । सामाजिक और राज-नीतिक संघर्ष वस्तुतः वैचारिक संघर्ष का परिणाम है । अतः उन दोनों

को साथ रखा गया है । धर्म को भी समाज के अन्तर्गत ही रखा है । किसी भी लेखक के जीवन में उसका शैशवकालीन-संघर्ष महत्वपूर्ण होता है । उस समय उसके "लिबिड़ो" में जो बैठ जाता है, वह मृत्यु-पर्यन्त रहता है । अतः शैशवकालीन संघर्ष को एक स्वतंत्र अध्याय के अन्तर्गत रखा गया है । शैक्षिक एवं साहित्यिक संघर्ष से भी लेखक को दो-चार होना पड़ा है ।

शिशु का जीवन जहां एक तरफ चंचल, निर्दोष, आनंदमय क्रीड़ामय होता है; वहां दूसरी तरफ भय, असलामती, मानसिक दबाव आदि भी उसे परिचालित करते हैं । अतः शिशु-जीवन में जो संघर्ष पाया जाता है, वह दो प्रकार का होता है -- बाह्य एवं आंतरिक । यदि प्रेमचन्दजी के जीवन को लें तो मां की मृत्यु, परिवार की दरिद्र अवस्था तथा सौतेली मां का व्यवहार आदि बाह्य-संघर्ष के अन्तर्गत आते हैं; तो मां की स्मृतियां, बड़ों का आतंक, असलामती, पढ़ाई का डर तथा चिन्ता आदि आंतरिक संघर्ष हैं ।

घर की गरीबी से केवल बड़े ही प्रभावित नहीं होते, परंतु उसका बुरा असर बच्चों पर भी पड़ता है । मंगदस्ती के कारण मां-बाप या अभिभावक परेशान होते हैं, किन्तु उनकी परेशानी का कहर टूटता है बच्चों पर । उसके कारण बच्चों में खराब आदतें विकसित होती हैं । चोरी करना, जुआ खेलना, स्कूल से "गोटली" मार जाना, चटोरापन, घर से भाग जाना जैसी प्रवृत्तियां बच्चे में अनजाने ही घर करने लगती हैं । "चोरी", "होली की छुट्टी", "शंखनाद", "ईदगाह", "बूढ़ी काकी", "प्रेरणा" आदि कहानियां तथा "वरदान", "सेवासदन", "रंगभूमि", "गोदान" प्रभृति उपन्यासों में हमें उक्त प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं । प्रेमचन्दजी ने अपने शैशव में भीषण गरीबी को देखा है, उसका एक परिणाम यह हुआ कि उनके साहित्य में हमें ऐसे पात्रों की बहुतायत मिलती है जो दरिद्रता के शिकार हैं । परिवार में बच्चे के मानस की भयाक्रान्त स्थिति भी उसके आंतरिक संघर्ष का एक रूप है । किसी भी कारण से घर का वातावरण यदि तनावग्रस्त रहता है, तो उसका बुरा प्रभाव शिशु के कोमल मन पर पड़े बिना नहीं रहता । प्रेमचन्द ने अपने

घर-परिवार तथा पास-पडोस में इस भयाक्रान्त वातावरण को देखा है, अतः उसका यथार्थ चित्रण उनके उपन्यासों तथा कहानियों में प्राप्त होता है। "निर्मला" उपन्यास का जियाराम आवारा निकल जाता है और अन्ततः घर में चोरी करने के कारण मारे शर्म के आत्महत्या कर लेता है। सियाराम भी इसी भयाक्रांत परिवेश की छाया में साधुओं के साथ भाग जाता है।

एक बार बच्चा भयंकर दरिद्रता में खुश रह सकता है, परंतु माता की मृत्यु तो शैशव-जीवन पर टूट पड़नेवाली बिजली के समान होता है। प्रेमचन्द को इस सिसकते शैशव का वैयक्तिक अनुभव है। मां की मृत्यु के आघात को बच्चा अभी भूल भी नहीं पाया है कि पिता दूसरा विवाह रचा लेते हैं और फिर शुरू होती है शैशव-जीवन की एक बहुत बड़ी त्रासदी। यहां प्रेमचन्दजी के की कलागत निरपेक्षता की परीक्षा होती है। यदि प्रेमचन्दजी सामान्य लेखक होते तो यत्र-तत्र सर्वत्र विमाता की बुराई करते। परंतु एक वस्तुवादी लेखक होने के नाते प्रेमचन्दजी को इसमें दोष सौतेली मां का कम, पिता का अधिक लगता है। उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में सौतेली मांओं का तटस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। लोग यदि अवस्था को देखकर या तो विवाह न करें, या फिर अपनी किसी समवयस्का विधवा या त्यक्ता से करें, तब तो ठीक है, परंतु आप तो होते हैं चालीस-पचास के और किसी सत्रह-अठारह साल की लड़की से पुनर्विवाह कर लेते हैं और सात-आठ साल में उसको विधवा बनाकर स्वर्ग (?) में सिधार जाते हैं। ऐसे में उसके आंतरिक आक्रोश का ज्वालामुखी सौतेले बच्चों पर फूटे तो उसमें क्या आश्चर्य? अतः प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हमें सौतेली मां के दोनों रूप मिलते हैं। कुछेक सौतेली माएं तो वास्तव में बहुत अच्छी हैं। "निर्मला" उपन्यास की निर्मला का व्यवहार भी अपने सौतेले पुत्र -- मंसाराम, जियाराम तथा सियाराम से काफी अच्छा है। बल्कि पति-सुख की कमी की पूर्ति वह इन बच्चों के साथ हंस-बोल कर

पूरा कर लेती है , पर वह भी उस बूढ़े तोताराम से देखा नहीं जाता और शंका-कुशंका की आग में मंसाराम की बलि हो जाती है । उसके बाद स्थिति-यां निरंतर बिगड़ती ही जाती हैं और अच्छी-खासी निर्मला एक कर्कशा औरत में तब्दिल हो जाती है । "कर्मभूमि" उपन्यास का अमरकांत भी ताजिन्दगी मां के प्रेम को तरसता रहता है । विमाता के त्रास तथा पिता की उपेक्षा के भी अनेक चित्र उनके कथा-साहित्य में उपलब्ध होते हैं , परंतु उसका एक दूसरा प्रभाव इस रूप में भी सामने आता है कि जहाँ किसी×पुत्र×××××××× पुत्र-पुत्रियों वाले सज्जन ने विवाह नहीं किया है , तो लेखक की पूरी संवेदना उसे मिली है । "स्मृति का पुजारी" इसी प्रकार की कहानी है । माता की मृत्यु , विमाता का त्रास तथा पिता की उपेक्षा की त्रासद-महात्रयी से छोटे बच्चे का जीवन अनेक प्रकार की विभीषिकाओं का शिकार हो जाता है । स्वयं प्रेमचन्दजी ने इन स्थितियों को भोगा है , अतः उसके वर्णन और विश्लेषण में सच्चाई की ध्वनि साफ-साफ सुनाई पड़ती है ।

प्रेमचन्दजी के जीवन में आर्थिक-संघर्ष हमेशा से रहा है और मृत्यु-पर्यन्त रहा है । यह आर्थिक संघर्ष लेखक की अपनी जीवन-दृष्टि का भी परिणाम है । परिश्रम तो उन्होंने बहुत किया , परंतु आर्थिक उपलब्धियों की ओर वे कभी आकर्षित नहीं हुए । इस विषय में वे कबीर का अनुसरण करते हुए पाए जाते हैं । वे चाहते तो काफी कुछ कमा सकते थे , कई मौके आये भी , परंतु उन्होंने उधर ध्यान नहीं दिया । देते तो शायद "गोदान" , "रंगभूमि" या "कफ़न" , "शतरंज के खिलाड़ी " जैसी रचनाएं न दे पाते और तब प्रेमचन्द प्रेमचन्द न रहते । आर्थिक संघर्षों के कारण ही लेखक की संवेदना शोषितों और गरीबों के प्रति अधिक रही है । "गोदान" समस्या वस्तुतः ऋण की समस्या है और यह समस्या कमोबेश रूप में प्रेमचन्दजी की भी रही है । आर्थिक तंगदस्ती के प्रत्यक्षतः भुक्तभोगी होने केकारण उनकी वस्तु संकलना सदैव वस्तुवादी रही है , जिसके परिणाम-स्वरूप शोषण के नाना कोणों को वे यथार्थतः उकेर पाए हैं ।

पारिवारिक-संघर्षों में परिवार का टूटना-बिखरना, पति-पत्नी के टकराव, इस टकराव में सास-ननद की भूमिका, पिता-पुत्र का टकराव, माता-पुत्र का टकराव जैसी समस्याएं रहती हैं। इन पारिवारिक कलहों के बीच तो वे पले-बढ़े हैं तथा अनेक स्थानों पर रहने के कारण उन्हें इसका विस्तृत ज्ञान है। अतः पारिवारिक संघर्षों का यथार्थ चित्रण उनके कथा-साहित्य का प्राण-तत्त्व है। यहां प्रेमचन्दजी की सूक्ष्म-पैनी निरीक्षण शक्ति का हमें अनुभव होता है।

सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक या सैद्धान्तिक संघर्ष अपने नैसर्गिक रूप में वैचारिक होता है। वैचारिकता के विकसित होने पर ही उसका बाह्य स्वरूप निर्धारित होता है। प्रारंभ से ही प्रेमचन्दजी में हमें प्रगतिशील आयामों के दर्शन होते हैं और फलतः विचारधारा के स्तर पर वे आर्यसमाज, गांधीवाद तथा मार्क्सवाद को स्पर्श करते हुए दृष्टिगत होते हैं। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे हमेशा इस सहस्त्रशीर्षा व्यवस्था के विरोधी रहे क्रे×क्रि× तथा सदैव उन रूढ़ियों एवं परंपराओं से जूझते रहे जो शोषणोन्मुखी थीं। फलतः अपने कथा-साहित्य में उन्होंने नारी-शिक्षा, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह, जातिवाद, अस्पृश्यता की समस्या, हिन्दु-मुस्लिम एकता की समस्या, धर्म के नाम पर चलने वाले भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं को उकेरा है।

प्रेमचन्द में आद्यन्त हमें मानवतावादी दृष्टिकोण मिलता है। मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रखकर चलनेवाला लेखक कभी सामाजिक दायित्व और सोद्देश्य लेखन के पथ से विचलित नहीं हो सकता और नतीजतन समसामयिक राजनीतिक गतिविधियों से लेखक का दो-चार होना स्वाभाविक है। गांधीजी के आह्वान पर उन्होंने नौकरी छोड़ी थी। उनकी पत्नी तो इन आंदोलनों में जेल भी गई हैं। स्वयं प्रेमचन्द को एक्रक्रिक्रअनेक बार अपने लेखन के कारण अंग्रेज-सत्ता का कोपभाजन होना पड़ा है। अतः कह सकते हैं कि प्रेमचन्दजी को राजनीति से कोई परहेज नहीं थी। ह्रक्र तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से वे पूर्णतया

अभिज्ञ थे । प्रेमचन्दजी की राजनीतिक समझ क्रमशः विकसित होती गई है । आर्यसमाज , गांधीवाद से होते हुए वह मार्क्सवाद तक गई है । शोषण की हर संस्था के विरोधी होने के कारण विदेशी शासन , राजे-महाराजे , जमींदार , छद्म-कांग्रेसी नेता इत्यादि सभी के खिलाफ उन्होंने जिहाद छेड़ी थी । आखिर-आखिर में तो गांधीवादी नेता तथा उनकी सुधारवादी — हृदय-परिवर्तन वाली — विचारधारा से भी उनका मोहभ्र मोहभंग हो गया था । "गोदान" , "मंगलसूत्र" तथा "महाजनी सभ्यता" जैसे उनके लेखों में इस परिवर्तित प्रवृत्ति का कुछ-कुछ संकेत मिलता है ।

सामाजिक , पारिवारिक , आर्थिक , राजनीतिक प्रभृति संघर्षों की भांति प्रेमचन्दजी को शैक्षिक एवं साहित्यिक संघर्ष भी कम नहीं करना पड़ा है । परंतु इन संघर्षों के कारण इनमें कटुता कभी नहीं आई । वे अपने समूचे लेखन में सत्य और न्याय के पक्षधर रहे हैं । संघर्षों की इस तपिश ने उनकी प्रतिभा के कुंदन को और निखारा है । समाज के विष को पीकर उन्होंने अमृत ही दिया है ।

अन्त में यही प्रार्थना है कि मेरी शक्ति-मति की अपनी सीमाएं हैं । आलोचना-अनुशीलन-अनुसंधान के क्षेत्र में मेरा यह प्रथम कदम है । हो सकता है , इसीसे कोई राह निकल आये । मेरे इस शोध-कार्य से बाद के अनुसंधित्सुओं को यदि किंचित भी आलोक मिला, या इसने किसीकी शोध-चेतना को थोड़ा-सा भी प्रदीप्त किया , तो मेरा श्रम व अध्यवसाय सार्थक होगा । प्रेमचन्द साहित्य तो एक महासागर की भांति है । अभी उसके कई आयाम ऐसे हैं जिनको लेकर "माईक्रो-रीसर्च" हो सकती है । प्रेमचन्दजी की भाषा , उनके मुहावरे और लोकोक्तियों तथा सूक्तियों को लेकर काम हो सकता है । प्रेमचन्दजी के विचारों के परिप्रेक्ष्य में भी उनके कथा-साहित्य का अनुशीलन हो सकता है ।

——: इति शुभम् :——